शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

भाद्रपद : २४८१ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ अंक पाँचवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

अभी तक क्या किया ?

भगवान सर्वज्ञदेव कहते हैं कि अरे आत्मा! पूर्व अनन्तानन्त काल के संसार परिभ्रमण में तूने अपने आत्मा का सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक क्षण भी नहीं किया। यदि एक क्षण भी आत्मा का सम्यक् दर्शन करे तो इस संसार परिभ्रमण का नाश हुए बिना न रहे। भगवान! तूने अपने चैतन्य की जाति को जाने बिना धर्मीपने का अभिमान किया है, पुण्य परिणाम करके तूने ऐसा माना कि मैंने धर्म किया है; और जड़ की क्रिया मुझसे होती है—ऐसा पर का अभिमान किया है, किन्तु जड़ से भिन्न और पुण्य-पाप से भिन्न तेरा ज्ञानसवभाव क्या है-उसे तूने कभी नहीं जाना। उस चैतन्यतत्त्व की पहिचान के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन के बिना भवभ्रमण दूर नहीं होता। इसलिये ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को पहिचान कर सम्यग्दर्शन कैसे हो-उसका उपाय करना चाहिये।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१२५

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री जिनमंदिर और जन्मोत्सव फंड

४७०४७.०० आत्मधर्म अंक १२४ तक प्रकाशित

५०१	पू. शांताबेन की मातुश्री दीवालीबेन, (हा. मणिलाल जेचंदभाई खारा)	सोनगढ़
१०१	हसुमतीबेन, हा. मोतीलाल सुन्दरजी पारेख	अफ्रीका
२६६	मेसर्स वीरचंद एण्ड कं.	मोशी-अफ्रीका
२६६	भाई रायचंद धरमशी	मोशी-अफ्रीका
२६४	सेठ मोहनलाल पाटनी	कलकत्ता
३०१	भाई करमण नरसी की मातुश्री	नैरोबी
२२५	भाई करमण नरसी	नैरोबी
१३२	शाह वेलजी खीमजी तथा उनकी धर्मपत्नी	नैरोबी
१३२	सेठ वीरचंदभाई	कलकत्ता
१३२	ताराचंदजी गंगवाल	कलकत्ता
७७	सेठ मयाचंद छगनलाल	चित्तल
६६	भाई करमण नरसी	नैरोबी
६६	कान्ताबेन मोतीलाल पारेख	अफ्रीका
६६	सविताबेन रसिकलाल	राजकोट
६६	मंजुलाबेन नानालाल	जलगांव
६६	लाभुबेन जगनजीवदास	दिल्ली
६६	शाह जगजीवनदास हीराचंद	दिल्ली
६६	सेठ कस्तूरचंद मणिलाल तथा हीराबेन	

(शेषांश टाइटिल पृष्ठ ३ पर)

आत्मधर्म

भाद्रपद : २४८१ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ अंक पाँचवाँ

धर्म की भूमिका में

भगवान की भक्ति का भाव

[बांकानेर पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय पूज्य गुरुदेव का प्रवचन : वीर सं. २४८०, चैत्र शुक्ला ११]

आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है, उसकी वह बात चल रही है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप जानने से ही धर्म और शांति होती है। जीव अपना भला करना चाहता है, सुखी होना चाहता है; उसका अर्थ क्या हुआ? प्रथम तो वर्तमान में भला नहीं है, हित नहीं है—सुख नहीं है; इसलिये वह सब प्राप्त करना चाहता है। तो वह जो सुख-हित लेना चाहता है, वह है कहाँ? काहे में से सुख लेना चाहता है? अहित टालना चाहता है तो वह अहित है कहाँ? और हित करना चाहता है तो वह हित कहाँ है—वह सब जानना चाहिये। अहित कहो, अधर्म कहो या दुःख कहो—यदि वह आत्मा का असली स्वभाव हो तो कभी दूर नहीं हो सकता। और यदि संयोग में अहित हो तो वह संयोग छूटने पर अहित छूट जाना चाहिये। संयोग में भी अधर्म नहीं है और आत्मा के स्वभाव में भी अधर्म नहीं है; अधर्म या अहित तो आत्मा की एक क्षणपर्यंत की विकृतदशा है और आत्मा का असली स्वभाव हितरूप है। उस स्वभाव के अवलम्बन से ही अहित दूर होकर हितदशा प्रगट होती है। क्षणिक विकार ही अपना पूर्ण स्वरूप है—ऐसा मानना, वह महान अधर्म है। क्षणिक विकार होने पर भी, उस विकाररहित शुद्धस्वरूप है, वह कैसे ज्ञात होता है-उसकी यह बात है। भाई! क्षणिक विकारीदृष्टि छोड़कर, अपने त्रिकाली स्वभाव को दृष्टि में ले तो तेरा आत्मा अबन्धस्वभावी है, वह लक्ष में आये और संसार का नाश होकर आत्मा में मुक्ति की झन्कार उठने लगे।

जिस प्रकार नारियल में सफेद गोला है, वह छाल से और नरेली पृथक् है; और भीतर की जो लाल छाल है, उससे भी पृथक् है; उसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्य गोला, देह से और कर्म से पृथक् है, तथा भीतर के क्षणिक रागादि से भी पृथक् है। क्षणिक संयोग की ओर से देखने पर वर्तमान में कर्म के सम्बन्धवाला दिखाई देता है, किन्तु उसके मूल ज्ञायकस्वभाव की ओर जाकर देखने से वह कर्म संबन्ध से रहित है। जिस प्रकार कमल-पत्र को पानी के संयोग की ओर से देखने पर उसका पानी के साथ सम्बन्ध दिखाई देता है, किन्तु कमल का स्वभाव कोरा—पानी से अलिप्त रहने का है; उस स्वभाव के समीप जाकर देखने से वह पानी से अलिप्त ही है; उसी प्रकार क्षणिक कर्म के सम्बन्ध की अपेक्षा से देखने पर आत्मा, बंधनयुक्त दिखाई देता है, किन्तु उसका मूल स्वभाव तो कर्म सम्बन्ध से रहित अबद्ध है; उस स्वभाव के सन्मुख लक्ष करके देखने से भगवान आत्मा शुद्धस्वभावरूप से अनुभव में आता है। अकेली पर्याय और संयोग की ओर देखकर अनादि से अपने को अशुद्ध और संयोगवाला ही माना, इसलिये संसार में भटका है। यदि अन्तर्मुख होकर शुद्धस्वभाव को लक्ष में ले तो अनादि का मिथ्याभाव एक क्षण में दूर हो जाये। एक क्षण की समझ से अनादिकालीन बेसमझी दूर हो जाती है। अनादिकाल से आत्मा के यथार्थस्वभाव की दृष्टि जीव ने कभी नहीं की। अभी तो यथार्थस्वरूप समझानेवाले सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की भी जिन्हें पहिचान नहीं है, उनके प्रति विनय-बहुमान का भाव नहीं उछलता, ऐसे जीव तो व्यवहार से भी भ्रष्ट हैं। भले ही मुँह से निश्चय की बातें करते हों, किन्तु जिन्हें अभी व्यवहार में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का विवेक नहीं है, वे तो भ्रष्ट और स्वच्छन्दी हैं। किसी की बात चुराकर जो अपने नाम पर चढ़ाता है, और गुरु का नाम छिपाता है, वह तो व्यवहार और निश्चय दोनों में भ्रष्ट है। भाई! अगर कोई वस्तु लेने जाता है तो दुकान ढूँढ़कर, परीक्षा करके लेता है; तब फिर जिसे धर्म की जरूरत हो उसे-धर्म की दुकान कहाँ है? धर्म का स्वरूप बतलानेवाले देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं?—ऐसी परीक्षा करके जानना चाहिये। अभी जिसके देव-गुरु-शास्त्र ही मिथ्या हैं, उसके पास आत्मा के स्वभाव की यथार्थ बात तो हो ही नहीं सकती। जो ऐसे कुदेव-कुगुरु को मानते हों, उनकी यहाँ बात नहीं है, वे तो तीव्र मिथ्यात्व में फँसे हैं। वहाँ तो जिन्हें सच्चे देव-गुरु के प्रति बहुमान है और भक्ति से आकर पूछते हैं कि प्रभो! आत्मा का शुद्धस्वरूप किस प्रकार ज्ञात होता है?—ऐसे जिज्ञासु शिष्य को यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं। पानी के संयोग में स्थित होने पर भी उसी समय कमल के स्वभाव के निकट जाकर देखने से उसका स्वभाव पानी से अलिप्त ही है; उसी प्रकार

भगवान आत्मा अनादिकाल से कर्म कर्मसंयोग में स्थित होने पर भी, उसके मूल ज्ञानस्वभाव को लक्ष में लें तो वह कर्म संबन्ध से रहित है। वर्तमान बन्धनयुक्त अवस्था से देखने पर आत्मा को कर्मों का सम्बन्ध और बंधन है—इतना निमित्तनैमित्तिकसंबन्ध है, किन्तु आत्मा के भूतार्थ एकाकार ज्ञायकस्वभाव को लक्ष में लेकर अनुभव करने से उसमें कर्म का सम्बन्ध है ही नहीं। क्षणिक अवस्था में कर्म का सम्बन्ध है, वह अभूतार्थ है। इसलिये भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से देखने पर कर्म सम्बन्ध से रहित ऐसे शुद्ध आत्मा का अनुभव हो सकता है। देखो, यह अनेकान्त!! क्षणिक पर्याय में विकार का संबन्ध और कर्म है, और उसी समय भूतार्थस्वभाव विकाररहित तथा कर्मसम्बन्ध से रहित है; उन दोनों प्रकारों को लक्ष में लेकर ज्ञान भूतार्थस्वभाव की ओर ढल गया उसका नाम शुद्धनय है और यही अनेकान्त का फल है।

जिस प्रकार गाय के गले में रस्सी बँधी हो, वहाँ रस्सी की अपेक्षा से देखने पर गाय बँधी हुई है, किन्तु गाय के स्वभाव की अपेक्षा से देखें तो रस्सी और गाय का गला एकमेक नहीं हुए हैं—पृथक् ही हैं। उसी प्रकार भगवान आत्मा का ज्ञानस्वभाव है; कर्म संयोग की अपेक्षा से देखने पर आत्मा बँधा हुआ है किन्तु आत्मा के ज्ञानस्वभाव को लक्ष में लेकर देखने से उसमें कर्म का बंधन है ही नहीं। धर्मी जानते हैं कि बन्धन अवस्था जितना ही मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञानस्वभाव हूँ। सरोग अवस्था होने पर भी उस सरोग अवस्था के समय भी निरोग अवस्था का ज्ञान हो सकता है; सरोग अवस्था कहीं निरोग अवस्था का ज्ञान करने में रुकावट नहीं डालती। उसी प्रकार अवस्था में सरोगता अर्थात् विकार होने पर भी उस विकाररहित निर्दोष ज्ञानानंद स्वभाव मैं हूँ—ऐसा ज्ञान भूतार्थदृष्टि से हो सकता है। और ऐसे शुद्ध आत्मा का भान होने पर भी भगवान की भक्ति का भाव आये, बड़े-बड़े हाथी मँगवाकर भगवान की रथयात्रा निकाले, भक्ति से नाच उठे;—ऐसा शुभराग आने पर भी धर्मी को अन्तर में अपने शुद्धस्वभाव का भान नहीं हटता। इन्द्र एकावतारी हैं, उन्हें आत्मा का भान होता है और एक भव धारण करके मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं; तथापि उन्हें भी भगवान के जन्मकल्याणक आदि प्रसंगों पर भक्ति का भाव उछलने लगता है। इन्द्र आकर भगवान का महान जन्मोत्सव मनाते हैं, जिसका दृश्य आज ही हुआ है। यहाँ तो स्थापना है, किन्तु ऐसा जगत में साक्षात होता आया है। अहो! जब तीर्थंकर का जन्म होता है, तब इन्द्र आकर महोत्सव करते हैं और बाल प्रभुजी को हाथ में लेकर जब उनका रूप निरखते हैं, तब आश्चर्यचकित हो जाते हैं; हजार नेत्र बनाकर भगवान का रूप देखने पर भी उन्हें तृप्ति नहीं होती, ऐसा तो अद्‌भुत रूप होता

है। पूर्वकाल में आत्मा के भानसहित भूमिका में जो शुभभाव हुआ था, उसके फल में यह रूप प्राप्त हुआ है। भगवान का आत्मा भी अलौकिक होता है और शरीर भी। यहाँ पर जो भगवान का पंचकल्याणक महोत्सव मनाया जा रहा है, ऐसे महोत्सव तो अनन्तबार हो चुके हैं। महान संतों-मुनियों ने प्रतिष्ठाविधि के शास्त्र रचे हैं। अन्तर में चिदानन्द स्वभाव का भान हो और ऐसे पंचकल्याणक महोत्सव आदि का भाव भी आये—ऐसी धर्मी की भूमिका होती है। आत्मा का भान होने के पश्चात् पूजा-भक्ति का भाव आता ही नहीं है;—ऐसा कोई कहे तो उसे धर्म की भूमिका का भान ही नहीं है। और अकेले शुभराग को ही धर्म मान ले तो उसे भी धर्म का भान नहीं है। यहाँ तो अपूर्व बात है। क्षणिक विकार होने पर भी आत्मा का भूतार्थस्वभाव शुद्धचैतन्य है; उसमें विकार नहीं है—ऐसे भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से शुद्ध आत्मा की अनुभूति प्रगट करना, वह अपूर्व धर्म है।

[१] स्वभाव की सामर्थ्यता

[२] विभाव की विपरीतता

[३] संयोग की पृथक्ता

—इन तीनों को बराबर जानना चाहिए। चाहे जितना पढ़े और चाहे जितना सुने, किन्तु अंतर में इस मूल वस्तु का ख्याल न आवे, तब तक आत्मा को सच्चा लाभ नहीं होता।

[१] स्वभाव का सामर्थ्य कितना है, उसे जान ले तो उसमें दृष्टि हो।

[२] विभाव की विपरीतता कितनी है, उसे जान ले तो उसकी रुचि दूर होकर स्वभाव की रुचि हो।

[३] संयोग का कैसा पृथकत्व है, उसे जान ले तो उसमें से एकत्वबुद्धि छूटकर स्वोन्मुख हो।

[१] स्वभावसामर्थ्य की महत्ता भासित हुए बिना उस ओर दृष्टि नहीं जाती।

[२] विभाव की विपरीतता जाने बिना उसकी रुचि दूर नहीं होती।

[३] संयोग का पृथक्त्व जाने बिना उसका मोह दूर नहीं होता।

—इसलिये उपरोक्त तीनों बोल बराबर जानना चाहिए। [—चर्चा से]

भेदविज्ञान की प्रशंसा और उसका उपाय

[राजकोट शहर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(वीर सं. २४८०, माघ कृष्णा १३)

भेदज्ञान से ही जीव को संवर होता है, इसलिये वह भेदज्ञान अत्यन्त प्रशंसनीय है; भेदज्ञान के बिना अज्ञानी जीव चाहे जितने व्रतादिक करे, तथापि वे प्रशंसनीय नहीं हैं। मैं अखण्ड ज्ञान-आनन्दस्वरूप हूँ—ऐसी अन्तर्मुख दृष्टि करना, वह भेदज्ञान की क्रिया है; जो जीव एक क्षण भी ऐसा अपूर्व भेदज्ञान करे, उसकी अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना नहीं रहती।

यह संवर अधिकार है। संवर धर्म है और उसका मूलकारण भेदविज्ञान है। मैं पर से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, क्रोधादिक भी मेरे स्वरूप से भिन्न हैं—ऐसा यथार्थ भेदज्ञान अनादिकाल में जीव ने एक क्षण भी नहीं किया है और क्रोधादिक में ही अपनापन मानकर अनादि से संसार में भटक रहा है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादिकभाव विकार स्वरूप हैं; ज्ञानस्वरूप आत्मा में क्रोधादिक नहीं हैं और क्रोधादिक में ज्ञान नहीं है;—इस प्रकार उन दोनों का पृथक्त्व समझकर ज्ञानस्वरूप आत्मा में ज्ञान की एकता हो और क्रोधादिक विकार से भिन्नता हो, उसका नाम भेदज्ञान है; आत्मा में ऐसा अपूर्व भेदज्ञान प्रगट करना, वह संवर होने का उपाय है और वही धर्म है; तथा वही मोक्ष का कारण है।—इस प्रकार भेदज्ञान ही संवर होने का उत्कृष्ट उपाय है, इसलिये आचार्य-यहाँ मांगलिकरूप से उस भेदज्ञान की प्रशंसा करते हैं।

चैतन्यतत्त्व की यह बात जीवों ने अनादिकाल से नहीं जानी है, इसलिये ध्यान रखकर समझने योग्य है। अपने ज्ञानानन्दस्वभाव में अन्तर्मुख दृष्टि से आत्मा जो निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप उपयोग की क्रिया करे, उसमें आत्मा है; किन्तु क्रोधादिक में आत्मा नहीं है। यहाँ 'क्रोध' कहने से सामान्य क्रोध की बात नहीं है किन्तु 'राग है, सो मैं हूँ'—ऐसी विकार में एकत्वबुद्धि से चैतन्य का अरुचिभाव है, वह क्रोध है, उसमें आत्मा नहीं है। आत्मा अनादि-

अनन्त उपयोगस्वरूप है; वह अपने निर्मल उपयोग में ही है किन्तु क्रोधादि में वह नहीं है, और क्रोधादि में वे क्रोधादि हैं किन्तु उपयोग में क्रोधादि नहीं हैं।—इस प्रकार 'उपयोगस्वरूप आत्मा' और 'क्रोधादि स्वरूप आस्रव'—इन दोनों का यथार्थ भेदज्ञान होने से जीव अपने उपयोगस्वरूप आत्मा में ही एकता करके अपने शुद्ध उपयोगभाव को ही करता है, किन्तु शुद्ध उपयोग के सिवा क्रोधादि भावों को अपने में किंचित् भी नहीं करता, इसलिये उसके उन क्रोधादिक का संवर होता है। इस प्रकार भेदज्ञान से ही जीव को संवर होता है; इसलिये वह भेदज्ञान अत्यन्त प्रशंसनीय है।—ऐसे भेदज्ञान के बिना अज्ञानी जीव चाहे जितने व्रतादिक करे, तथापि वे प्रशंसनीय नहीं है।

प्रथम तो सत्समागम से यह बात लक्ष में लेना चाहिये; फिर अंतर के अभ्यास द्वारा प्रयत्न करने से उसका वेदन होता है। अभी जो सत्समागम से सच्चा निर्णय भी नहीं करता, उसे अनुभव तो कहाँ से होगा? सत्समागम से ज्ञान और क्रोध के भेद का बराबर निर्णय करके, "मैं ज्ञातादृष्ट शुद्ध उपयोगमय हूँ"—इस प्रकार स्वभावोन्मुखता से राग का अभाव करके जो निर्मल पर्याय प्रगट हो, उसके आधार से आत्मा है, किन्तु राग के आधार से आत्मा नहीं है। निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उसके साथ आत्मा की अभेदता है किन्तु क्रोधादि के साथ आत्मा की अभेदता नहीं है। स्वभावसन्मुख होकर जो वीतरागी ज्ञानदशा प्रगट हुई, उसकी आत्मा के साथ अभिन्नता है और क्रोधादि से भिन्नता है। ज्ञान को अंतरस्वभावोन्मुख करके एकाग्र करने से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी वीतरागी क्रिया होती है, उसमें आत्मा है; और क्रोधादि का अभाव है।—ऐसा भेदज्ञान करना, वह अविपरीत ज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान है। इसके अतिरिक्त जो रागादि भावों से लाभ होना माने, उसे ज्ञान और क्रोधादि का भेदज्ञान नहीं है किन्तु विपरीत ज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान है। वह मिथ्याज्ञान, संसार का और भेदज्ञान, मुक्ति का कारण है।

देखो, यह अपूर्व बात है। अज्ञानरूप से जीव ने व्रत-तपादि सबकुछ किये परन्तु भेदज्ञान की यह बात कभी नहीं समझा; यह बात यथार्थरूप से सुनानेवाले ज्ञानियों का मिलना भी दुर्लभ है, और सम्यग्ज्ञानी के निमित्त बिना यह बात समझ में नहीं आ सकती। भेदज्ञान की योग्यतावाले जीव को अपने भाव में निमिततरूप से सत् निमित्तों का ही आदर होता है, वे असत् निमित्तों का आदर नहीं करते। अभी निमित्त में भी जिसकी भूल है—जिसके निमित्त ही मिथ्या हैं, जो कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को निमित्तरूप से स्वीकार करता है, उसके तो उपादान में भी सत् की पात्रता नहीं है; किसी के शब्द लेकर वह भले ही अध्यात्म की बातें करे किन्तु उसे यथार्थ भेदज्ञान होता ही नहीं।

जिसके अपने उपादान में भेदज्ञान की योग्यता हुई है, उसे निमित्तरूप से यथार्थ भेदज्ञान का स्वरूप बतलानेवाले सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का ही आदर होता है।—ऐसा होने पर भी निमित्त के अवलम्बन से भेदज्ञान नहीं होता। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र भी अनन्त बार मिले, किन्तु जीव ने अपने में उपादान की पात्रता प्रगट नहीं की, इसलिये भेदज्ञान नहीं हुआ, और न निमित्त-नैमित्तिक का यथार्थ मेल मिला। यहाँ तो भेदज्ञान की सूक्ष्म बात है। निमित्त से तो आत्मा पृथक् है और निमित्त की ओर का जो भाव होता है, उससे भी चैतन्यस्वरूप आत्मा पृथक् है; निमित्त या निमित्त की ओर का विकारी भाव, उसमें आत्मा नहीं है, इसलिये निमित्त की रुचि छोड़कर, निमित्त की ओर के राग की रुचि छोड़कर उस समय की ज्ञानपर्याय को अन्तरोन्मुख करके, ''मैं अखण्ड ज्ञान-आनन्दस्वरूप हूँ''—ऐसी अन्तर्मुख दृष्टि करना, वह भेदज्ञान की क्रिया है, उसमें आत्मा है अर्थात् अन्तर्मुखदृष्टि से आत्मा अनुभव में आता है।—ऐसा भेदज्ञान प्रगट करना, वह संवर और मुक्ति का उपाय है। जो जीव एक क्षण भी ऐसा अपूर्व भेदज्ञान करे, उसे अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी।

क्रोध और आत्मा का भेदज्ञान करके अन्तर के ज्ञानस्वभाव की ओर ढलने से जो स्व-परप्रकाशक ज्ञानपर्याय विकसित हुई, वह आत्मा में अभेद है, इसलिये उसमें आत्मा है। ''उपयोग में उपयोग है'' इसलिये चिदानन्दस्वभाव की ओर जो ज्ञानपर्याय उन्मुख हुई, उसमें आत्मा की प्रसिद्धि है; राग में आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है और आत्मा की प्रतीति में राग नहीं है। चैतन्यस्वभाव अत्यन्त सूक्ष्म है और राग अत्यन्त स्थूल परिणाम है, इस प्रकार उन दोनों की भिन्नता है। राग तो स्थूल है और उस राग में एकाग्र हुआ ज्ञान भी स्थूल है; सूक्ष्म तो चिदानन्दस्वभाव है, और राग से छूटकर चिदानन्द स्वभाव में ढला हुआ ज्ञान भी सूक्ष्म है। जो ज्ञान अन्तरोन्मुख होकर आत्मस्वभाव के साथ अभेद हुआ, उसे सूक्ष्म ज्ञान कहो, अतीन्द्रियज्ञान कहो या भेदज्ञान कहो अथवा संवर कहो—उसमें आत्मा है। शरीरादि अजीव की क्रिया में आत्मा नहीं है, इसलिये उसके द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती; राग की क्रिया में भी आत्मा नहीं है, इसलिये उसके द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती; राग की ओर ढली हुई ज्ञानपर्याय में भी वास्तव में आत्मा नहीं है। इसलिये उस परलक्षी ज्ञान द्वारा भी आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती; अंतर के चिदानन्दस्वभाव की ओर उन्मुख होकर अभेद हुई ज्ञानपर्याय में आत्मा है और उस ज्ञान द्वारा ही भगवान आत्मा की प्रसिद्धि होती है।—ऐसे ज्ञान द्वारा आत्मा को पहिचानना ही भेदज्ञान है; वही संवर और धर्म है।—ऐसे अपूर्व भेदज्ञान के

बिना ज्ञान में पर की ओर के ज्ञातृत्व का अधिक विकास हो, तथापि भगवान स्थूल कहते हैं। देह से-मन से और राग से पार, सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव अंतर में कौन है, उसकी जिसे पहिचान नहीं है, उसका सब ज्ञातृत्व स्थूल है। जिस ज्ञान ने अन्तर्मुख होकर परम सूक्ष्म ऐसे चैतन्यस्वभाव को लक्ष में लिया, वही ज्ञान सूक्ष्म है।

''उपयोग उपयोग में है''—इस एक वाक्य में आचार्यदेव ने बड़ा रहस्य भर दिया है। भगवान आत्मा उपयोगस्वरूप है, उसमें पर का तो त्रिकाल अभाव है और पर्याय में एक क्षण पर्यन्त का जो रागादिभाव है, उसका भी उपयोग स्वभाव में अत्यन्त अभाव है। उपयोगस्वरूप आत्मा तो अपने स्वसन्मुख उपयोग में ही है। राग में या संयोग में वह नहीं है । ऐसे चिदानन्दस्वभाव से च्युत होकर जो ऐसा मानता है कि मुझे बाह्य संयोग से या संयोगीवृत्ति से लाभ होता है—उसे संयोग की रुचि है और चैतन्यस्वभाव की अरुचि है। जिसने आत्मा के अनंत गुणस्वभाव का अनादर करके राग का आदर किया, उसे आत्मा के स्वभाव पर अनन्तानुबंधी क्रोध है और वही अनन्त संसार का मूल है। आत्मा का उपयोग-स्वभाव, राग के और पर के त्यागस्वरूप ही है; उसे न मानकर जो ऐसा मानता है कि—राग से मुझे लाभ होता है और मैं पर का त्याग कर दूँ;—उस जीव को अपने स्वभावधर्म का (सम्यग्दर्शनादिक का) त्याग है। आत्मा पर का तो ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता, किन्तु मैं पर को छोड़ दूँ—ऐसा जो मानता है, वह अपने स्वभावधर्म को छोड़ता है। आत्मा के स्वभाव की यह बात जीव कभी समझा ही नहीं है और वास्तव में उसका यथार्थ श्रवण भी नहीं किया है। यद्यपि पूर्वकाल में यह बात सुनने में आई है, किन्तु उस समय अंतर में उनका भाव लक्षगत नहीं किया; इसलिये वास्तव में उसने श्रवण भी नहीं किया है। वास्तविक श्रवण तो तब कहलाता है कि जैसा उसका भाव है, वैसा ही अंतर में लक्षगत करके समझे। समझ रहित श्रवण सच्चा श्रवण नहीं कहलाता।

कोई कहे कि—यह बात तो हमारी समझ में आती है, किन्तु उसका कार्य नहीं बनता। तो उससे कहते हैं कि भाई! पहले समझ में नहीं आता था और अब सत्य समझ में आया, तो उसमें ज्ञान का यथार्थ कार्य हुआ या नहीं हुआ? समझ में आता है और कार्य नहीं होता—यह बात ही मिथ्या है। सच्ची समझ करना ही धर्म का प्रथम कर्तव्य है। जो वास्तव में समझ ले, उसे कार्य की शंका नहीं रहती, और जिसे शंका रहे, उसे वास्तव में समझ में ही नहीं आया। समझ में तो आता है किन्तु कार्य नहीं होता—ऐसा कहनेवाले को वास्तव में सच्ची समझ ही नहीं हुई है। मैं समझता

हूँ—ऐसा वह भ्रमणा से मानता है; यदि वास्तव में समझ ले तो कार्य होने की शंका रह नहीं सकती।

उपयोग स्वभाव और रागादि विभाव—यह दोनों एक-दूसरे से विरुद्ध हैं; उपयोग में राग नहीं है और राग में उपयोग नहीं है—इस प्रकार दोनों का अत्यन्त पृथक्त्व है। जिसे उपयोग स्वरूप आत्मा की रुचि है, उसे राग की रुचि नहीं होती, और जिसे राग की रुचि है, उसे आत्मा की रुचि नहीं होती। यह मंदराग करते-करते इसके अवलम्बन से अंतर-स्वभाव में पहुँचा जा सकेगा—ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसे राग की रुचि है और चैतन्यस्वभाव की अरुचि है, वह अनन्तानुबंधी क्रोध है। राग से चैतन्यस्वभाव प्राप्त होता है—ऐसा जिसने माना है, उसने आत्मा को चैतन्यस्वभावाश्रित नहीं माना है, किन्तु रागाश्रित ही माना है; इसलिये राग का सन्मान करके चैतन्यस्वभाव का अपमान किया, राग का आदर करके आत्मस्वभाव का तिरस्कार किया,—वह महान पाप है और वही महान हिंसा है। उसने हाथ में तलवार नहीं ली है, बाह्य में किसी जीव को नहीं मारा है, तथापि वह अनन्त हिंसा करनेवाला है, क्योंकि वह राग से लाभ मानकर अंतर के चिदानन्दस्वभाव का घात कर देता है। और जिसे चिदानन्दस्वभाव का भान है, चैतन्य और विकार का भेदज्ञान वर्तता है—ऐसे सम्यक्त्वी धर्मात्मा चौथे गुणसथान में हों और हाथ में तलवार लेकर युद्ध कर रहे हों;—ऐसा पापभाव होने पर भी उसी समय अंतर में चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि होने से उनके क्रोधादि का अभाव है; चैतन्य के उपयोग में किंचित् क्रोधादि नहीं करते, इसलिये अनन्तानुबंधी कषाय तो उनके होती ही नहीं; राग के समय भी उनके चैतन्यस्वभाव का आदर छोड़कर राग का आदर नहीं होता। देखो, यह दृष्टि की सच्ची महिमा है। राग से भिन्न चैतन्यतत्त्व क्या है, उसे पहिचानकर ऐसी दृष्टि प्रगट करना ही वीतरागी अहिंसाधर्म की पहली क्रिया है।

समस्त कर्मों का संवर होने का उत्कृष्ट उपाय भेदज्ञान है; इसलिये आचार्यदेव ने भेदज्ञान की प्रशंसा करके उसका उपाय बतलाया है। भाई! तेरा आत्मा उपयोगस्वरूप है, वह राग से और पर से भिन्न है—ऐसा यथार्थ भेदज्ञान कर वही प्रथम वैराग्य है। उपयोग में मेरा आत्मा है और राग में मेरा आत्मा नहीं है—ऐसा जाना, इसलिये राग से विरक्त होकर ज्ञान अपने स्वभाव में ढला, वही सच्चा वैराग्य है। इसके अतिरिक्त जो जीव, राग से आत्मा को लाभ मानता है, वह तो महारागी है—मिथ्यादृष्टि है। जिसे राग की प्रीति और राग से चैतन्य की भिन्नता का भान नहीं है, उसे सच्चा वैराग्य कहाँ से होगा? भेदज्ञान के बिना सच्चा वैराग्य होता ही नहीं। अज्ञानी जीव बाह्य में त्यागी होकर भले ही राग की मन्दता करे, तथापि उसे सच्चा वैराग्य नहीं कहा जाता। राग पर ही जिसकी

दृष्टि पड़ी है, उसे वैराग्य कैसा ? राग में मेरा उपयोग नहीं है और मेरे उपयोग में राग नहीं है–ऐसा भेदज्ञान करके चिदानन्दस्वभाव में अन्तर्मुख वृत्ति से ज्ञानी को ही सच्चा वैराग्य होता है।

देखो, यह धर्म की रीति कहलाती है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र वह धर्म है। यह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की वीतरागी पर्याय किसी पर में से या राग में से नहीं आती; और वर्तमान ज्ञान के विकास में से भी नहीं आती; किन्तु अंतर में ध्रुव चिदानन्दस्वरूप आत्मा के अवलम्बन से ही वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की वीतरागी दशा प्रगट होती है। आत्मा को सम्यक्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट करने में अपने आत्मा के सिवा अन्य किसी का अवलम्बन नहीं है, इसलिये आत्मा के स्वभाव को पहिचानकर उसका अवलम्बन करना ही धर्म का उपाय है; इसके सिवा अन्य कोई धर्म का उपाय नहीं है। इसके सिवा अन्य किसी भी विपरीत उपाय से धर्म मानकर जो जीव, राग का आदर करता है, वह अपने चिदानन्दस्वभाव के प्रति कुटिलता करता है। लाभ का कारण अंतर में अपने चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन करना ही है—ऐसा न मानकर, बाह्य निमित्तों से मुझे लाभ होगा अथवा शुभराग हो तो धर्म करना सरल पड़ता है—ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, उसकी विपरीत मान्यता में अनन्तानुबन्धी क्रोध–मान–माया–लोभ विद्यमान हैं, वह महान अधर्म है और मेरा चिदानन्दस्वभाव, राग के अवलम्बन से पार है—ऐसा जानकर स्वभाव का अवलम्बन करने से जो सम्यग्दर्शनादि वीतरागभाव प्रगट होते हैं, वह अपूर्व धर्म हैं, और वही मोक्ष का मार्ग है।●●

अहो सर्वज्ञता की महिमा!!

[पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों से]

साधक को पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट न होने पर भी वह अपनी सर्वज्ञशक्ति की प्रतीति करता है; वह प्रतीति पर्याय के सन्मुख देखकर नहीं की है किन्तु पूर्ण स्वभाव-सन्मुख देखकर की है। वर्तमान पर्याय तो स्वयं अल्पज्ञ है, उस अल्पज्ञता के आश्रय से सर्वज्ञता की प्रतीत कैसे हो सकती है ?

अल्पज्ञ पर्याय द्वारा सर्वज्ञता की प्रतीति होती है, किन्तु अल्पज्ञता द्वारा सर्वज्ञता की प्रतीति नहीं होती। त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से सर्वज्ञता की प्रतीति होती है।

प्रतीति करनेवाली तो पर्याय है, किन्तु उसे द्रव्य का आश्रय है। द्रव्य के आश्रय से सर्वज्ञता की प्रतीति करनेवाले जीव को सर्वज्ञतारूप परिणमन हुए बिना नहीं रहता।

अल्पज्ञ पर्याय के समय भी अपने में सर्वज्ञत्वशक्ति होने का जिसने निर्णय किया, उसकी रुचि का जोर अल्पज्ञ पर्याय पर से हटकर अखण्ड स्वभाव की ओर ढल गया है, इसलिये वह जीव 'सर्वज्ञ भगवान का नंदन' हुआ है।

अभी अपने को सर्वज्ञता प्रगट होने से पूर्व भी 'मेरा आत्मा त्रिकाल सर्वज्ञता से परिणमित होने की शक्तिवाला'—ऐसा जिसने स्वसन्मुख होकर निर्णय किया है, वह जीव अल्पज्ञता को, राग को या पर को अपना स्वरूप नहीं मानता, अपने पूर्ण ज्ञानस्वरूप पर ही उसकी दृष्टि होती है।

जो आत्मा अपनी पूर्ण ज्ञानशक्ति की प्रतीति करे, वही सच्चा जैन और सर्वज्ञदेव का भक्त है।

आत्मा पर को ले या छोड़े, अथवा उसमें फेरफार करे—ऐसा जो मानता है, वह जीव आत्मा की शक्ति को, सर्वज्ञदेव को या जैन शासन को नहीं मानता है, वह वास्तव में जैन नहीं है।

देखो भाई! आत्मा का स्वभाव ही 'सर्वज्ञ' है, सर्वज्ञशक्ति समस्त आत्माओं में भरी है। 'सर्व...ज्ञ' यानी सबको जाननेवाला। सबको जाने—ऐसा महामहिमावन्त अपना स्वभाव है, उसे अन्यरूप-विकारीस्वरूप मान लेना, वह आत्मा की महान हिंसा है। आत्मा महान भगवान् है, उसकी महत्ता के यह गीत गाये जा रहे हैं।

भाई रे! तू सर्व का 'ज्ञ' यानी ज्ञाता है, किन्तु पर में फेरफार करनेवाला तू नहीं है। जहाँ प्रत्येक वस्तु पृथक्-पृथक् है, वहाँ उस पृथक् वस्तु का तू क्या करेगा? तू स्वतंत्र है और वह भी स्वतंत्र है। अहो! ऐसी स्वतंत्रता की प्रतीति में अकेली वीतरागता है।

'अनेकान्त' अर्थात् मैं अपने ज्ञानतत्त्वरूप हूँ और पररूप नहीं हूँ—ऐसा निर्णय करते ही जीव स्वतत्व में स्थिर हो गया और अनंत परतत्वों से उदासीनता हो गई। इस प्रकार अनेकान्त वीतरागता आ जाती है।

ज्ञानतत्व की प्रतीति के बिना पर की ओर से सच्ची उदासीनता नहीं होती।

स्व-पर के भेदज्ञान बिना वीतरागता नहीं होती। ज्ञानतत्त्व को चूककर 'मैं पर का करूँ'—ऐसा मानना, वह एकान्त है, उसमें मिथ्यात्व और राग-द्वेष भी हैं, वही संसार परिभ्रमण का मूल है।

'मैं ज्ञानरूप हूँ और पररूप नहीं हूँ'—ऐसे अनेकान्त में भेदज्ञान और वीतराग है, वही मोक्षमार्ग है और वही परमामृत है।

जगत में स्व और पर समस्त तत्त्व निज-निज स्वरूप से सत् हैं, आत्मा का स्वभाव उन्हें जानने का है; तथापि 'मैं पर को बदलता हूँ—ऐसे विपरीत अभिप्राय में सत् का खून होता है, इसलिये उस विपरीत अभिप्राय को महान हिंसा कहा गया है और वही महान पाप है।

अहो! मैं तो ज्ञान हूँ। सारा जगत ज्यों का त्यों अपने-अपने स्वरूप में विद्यमान है और मैं अपने ज्ञानतत्त्व में विद्यमान हूँ, तब फिर राग और द्वेष कहाँ? राग-द्वेष कहीं हैं ही नहीं। मैं तो सबका ज्ञाता सर्वज्ञता का पिण्ड हूँ, मेरे ज्ञानतत्त्व में राग-द्वेष है ही नहीं।—ऐसा धर्मी जानता है।

हे जीव! ज्ञानी तुझे तेरा आत्म-वैभव बतलाते हैं, अपने ज्ञान में स्थिर रहकर एक समय में तीनकाल-तीनलोक को जाने ऐसा ज्ञान वैभव तुझमें विद्यमान है। यदि अपनी सर्वज्ञशक्ति का विश्वास कर तो कहीं फेरफार करने की बुद्धि दूर हो जाये।

वस्तु की पर्याय में जिस समय जो कार्य होना है, वह नियम से होता है, और सर्वज्ञ के ज्ञान में तद्नुसार ज्ञात हुआ है—ऐसा जो नहीं मानता और निमित्त के कारण उसमें फेरफार होना मानता है, उसे वस्तु के स्वरूप की या सर्वज्ञता की प्रतीति नहीं है।

'सर्वज्ञता' कहते ही समस्त पदार्थों का त्रिकाल का क्रमबद्ध परिणमन सिद्ध हो जाता है। यदि पदार्थ में तीनों काल की पर्यायें निश्चत क्रमबद्ध न होती हो और आगे-पीछे होती हों तो

सर्वज्ञता ही सिद्ध नहीं हो सकती; इसलिये सर्वज्ञता स्वीकार करनेवाले को यह सब स्वीकार करना ही पड़ेगा।

आत्मा में सर्वज्ञत्वशक्ति है, वह 'आत्मज्ञानमयी' है। आत्मा, पर के सम्मुख रहकर पर को नहीं जानता, किन्तु आत्मसन्मुख रहकर आत्मा को जानते हुए लोकालोक ज्ञात हो जाते हैं, इसलिये सर्वज्ञत्वशक्ति आत्मज्ञानमय है। जिसने आत्मा को जाना, उसने सर्व जाना।

हे जीव! तेरे ज्ञानमात्र आत्मा के परिणमन में अनन्तधर्म एक साथ उछल रहे हैं, उसमें झाँककर अपने धर्म को ढूँढ़, कहीं बाह्य में अपने धर्म को मत ढूँढ़। तेरी अन्तर शक्ति के अवलम्बन से ही सर्वज्ञता प्रगट होगी।

जिसने अपने में सर्वज्ञता प्रगट होने की शक्ति मानी, वह जीव, देहादि की क्रिया का ज्ञाता रहा; पर की क्रिया को बदलने की बात तो दूर रही, किन्तु पर की पर्याय को आगे-पीछे करने की बुद्धि भी उसे नहीं होती; मात्र जानता है। जिसने ऐसे ज्ञान की प्रतीति की, उसको स्वसन्मुख दृष्टि के कारण पर्याय-पर्याय में शुद्धता की वृद्धि होती जाती है और राग कम होता जाता है। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की दृष्टि, वह मुक्ति का कारण है।

'सर्वज्ञता' कहने में दूरवर्ती या निकटवर्ती पदार्थों को जानने में भेद नहीं रहा; पदार्थ दूर हो या निकट हो, उसके कारण ज्ञान करने में कोई फर्क नहीं पड़ता। दूरवर्ती पदार्थ को निकट लाना या निकटवर्ती पदार्थ को दूर ले जाना, वह ज्ञान का कार्य नहीं है, किन्तु निकटवर्ती पदार्थ की भाँति ही दूरवर्ती पदार्थ को स्पष्ट जानना ज्ञान का कार्य है। 'सर्वज्ञता' कहने से सर्व को जानना आया, किन्तु उसमें कहीं 'यह अच्छा और यह बुरा'—ऐसी बुद्धि या राग-द्वेष करना नहीं आया।

केवली भगवान को समुद्घात होने से पूर्व उसे जाननेरूप परिणमन हो गया है, सिद्धदशा होने से पूर्व उसका ज्ञान हो गया है, भविष्य की अनंता-अनन्त सुखपर्यायों का वेदन होने से पूर्व सर्वज्ञत्वशक्ति उन्हें जाननेरूप परिणमित हो गई है।—इस प्रकार ज्ञान त्रिकाल की पर्यायों को जान लेने के सामर्थ्यवाला है, किन्तु उनमें से किसी पर्याय के क्रम को आगे-पीछे करके भविष्य में होनेवाली पर्याय केा वर्तमान में लाये, ऐसा नहीं हो सकता।

श्री आचार्यदेव, सर्वज्ञत्वशक्ति की पहिचान कराते हैं कि हे जीव! तेरे ज्ञान का कार्य तो मात्र 'जानना' ही है। राग-द्वेष करने का तेरा स्वरूप नहीं है और अपूर्ण जाननेरूप परिणमित हो—ऐसा भी तेरे ज्ञान का मूलस्वरूप नहीं है; सर्व को जाननेरूप परिणमित हो—ऐसा तेरे ज्ञान का पूर्ण

सामर्थ्य है।—ऐसी अपनी ज्ञानशक्ति को पहिचाने तो सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होकर अपूर्व आनंद का अनुभव हो।

मेरे आत्मा में सर्वज्ञशक्ति है—ऐसा जिसने स्वीकार किया, उसने अपने स्वभाव में राग-द्वेष का अभाव भी स्वीकार किया; क्योंकि जहाँ सर्वज्ञता हो, वहाँ राग-द्वेष नहीं होते, और जहाँ राग-द्वेष हों, वहाँ सर्वज्ञता नहीं होती। इसलिये सर्वज्ञस्वभाव का स्वीकार करनेवाला कभी राग-द्वेष से लाभ नहीं मान सकता, और राग-द्वेष से लाभ माननेवाला सर्वज्ञस्वभाव को स्वीकार नहीं कर सकता।

ज्ञानी कहते हैं कि तिनके के दो टुकड़े करने की शक्ति भी हम नहीं रखते;—इसका आशय यह है कि हम तो ज्ञायक हैं, एक परमाणुमात्र को भी बदलने का कर्तृत्व हम नहीं मानते। तिनके के दो टुकड़े हों, उसे करने की शक्ति हममें या किसी आत्मा में नहीं है, किन्तु जानने की शक्ति है—और वह भी इतनी ही जानने की शक्ति नहीं है, किन्तु परिपूर्ण जानने की शक्ति है।

जो जीव अपने ज्ञान की पूर्ण जानने की शक्ति को माने तथा उसी का आदर और महिमा करे, वह जीव अपूर्ण दशा को या राग को अपना स्वरूप नहीं मानता तथा उसका आदर और महिमा नहीं करता, इसलिये उसे ज्ञान के विकास का अहंकार कहाँ से होगा? जहाँ पूर्ण स्वभाव का आदर है, वहाँ अल्पज्ञान का अहंकार होता ही नहीं।

ज्ञानस्वभावी आत्मा संयोगरहित पर में अटकने के भावरहित है; किसी दूसरे के द्वारा उसका मान या अपमान नहीं है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वयं अपने से ही परिपूर्ण और सुख से भरपूर है।

सर्वज्ञता यानी अकेला ज्ञान... परिपूर्ण ज्ञान। ऐसे ज्ञान से परिपूर्ण आत्मा की प्रतीति करना वह धर्म की नींव है।

मेरे आत्मा में ही सर्वज्ञरूप से परिणमित होने की शक्ति है; उसी से मेरा ज्ञान परिणमित होता है—ऐसा न मानकर शास्त्रादि निमित्त के कारण मेरा ज्ञान परिणमित होता है—ऐसा जिसने माना, उसने संयोग से लाभ माना है, इसलिये उसे संयोग में सुखबुद्धि है; क्योंकि जो जिससे लाभ माने, उसे उसमें सुखबुद्धि होती ही है। चैतन्यबिम्ब स्वतत्त्व के अतिरिक्त दूसरे से लाभ मानना, वह मिथ्याबुद्धि है।

'मेरा आत्मा ही सर्वज्ञता और परम सुख से परिपूर्ण है'—ऐसी जिसे प्रतीति नहीं है, वह

जीव, भोग-हेतु धर्म की अर्थात् पुण्य की ही श्रद्धा करता है; चैतन्य के निर्विषय सुख का उसे अनुभव नहीं है; इसलिये उसके अंतर की गहराई में भोग को हेतु ही भरा है।

सर्वज्ञत्वरूप से परिणमित होने की आत्मा की ही शक्ति है, उसका आश्रय करने के बदले, निमित्त के कारण से ज्ञान का विकास होता है—ऐसा जो मानता है, उसे पंचेन्द्रिय के विषयों में सुखबुद्धि दूर नहीं हुई है। निमित्त और विषय—दोनों एक ही है। निमित्त के आश्रय से लाभ माननेवाला या विषयों में सुख माननेवाला—दोनों की एक ही जाति है। वे आत्मस्वभाव के आश्रय से परिणमित न होकर, संयोग का आश्रय करके ही परिणमित हो रहे हैं; भले ही शुभभाव हो, तथापि उनके विषयों की रुचि दूर नहीं हुई है और स्वभाव के अतीन्द्रियसुख की रुचि हुई नहीं है; उन्होंने अपने आत्मा को ध्येयरूप नहीं किया किन्तु विषयों को ही ध्येय रूप बनाया है।

अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त समस्त पदार्थ परविषय हैं; उनके आश्रय जो लाभ माने, उसे परविषयों की प्रीति है। जो अपने स्वभाव की प्रतीति करे, उसे किन्हीं पर विषयों में सुखबुद्धि नहीं रहती।

अहो! मेरे आत्मा में सर्वज्ञता का सामर्थ्य है—ऐसी जिसने प्रतीति की, वह प्रतीति उसने अपनी शक्तिसन्मुख रखकर की है या परसन्मुख?—आत्मा की शक्ति की प्रतीति आत्मा को ध्येय बनाकर होती है या पर को ध्येय बनाकर? किसी निमित्त, राग या अपूर्ण पर्याय के लक्ष से पूर्ण शक्ति की प्रतीति नहीं होती किन्तु अखण्डस्वभाव के लक्ष से ही पूर्णता की प्रतीति करनेवाले को कहीं भी पर के आश्रय से लाभ की बुद्धि नहीं रहती।

अरिहंत भगवान जैसी इस आत्मा की सर्वज्ञशक्ति अपने में ही भरी है। यदि अरिहंत भगवान के सामने देखता रहे और अपने आत्मा की ओर उन्मुख होकर निजशक्ति को न सँभाले तो मोह का क्षय नहीं होता। जैसे शुद्ध अरिहंत भगवान हैं, वैसा ही मैं हूँ—ऐसा यदि अपने आत्मा की ओर उन्मुख होकर जाने तो सम्यग्दर्शन प्रगट होकर मोह का क्षय होता है। इसलिये परमार्थतः अरिहंत भगवान इस आत्मा के ध्येय नहीं हैं; किन्तु अरिहंत भगवान जैसे सामर्थ्यवाला अपना आत्मा ही अपना ध्येय है, अरिहंत भगवान की शक्ति उनमें है, उनके पास से कहीं इस आत्मा को शक्ति नहीं आती; उनके लक्ष से तो राग होता है।

प्रभो! तेरी चैतन्यसत्ता के असंख्य प्रदेशी खेत में अचिंत्य निधान भरे हैं; तेरी सर्वज्ञशक्ति तेरे अपने ही निधान में भरी है; उसकी प्रतीति करके स्थिरता द्वारा खोदे तो तेरे निधान में से सर्वज्ञता प्रगट हो।

जिसप्रकार पूर्णता को प्राप्त ज्ञान में निमित्त का अवलम्बन नहीं है, उसी प्रकार निचलीदशा में भी ज्ञान, निमित्त के कारण नहीं होता; इसलिये वास्तव में पूर्णता की प्रतीति करनेवाला साधक अपने ज्ञान को परावलंबन से नहीं मानता, किन्तु स्वभाव के अवलम्बन से मानकर स्वोन्मुख करता है।

सर्वज्ञशक्तिवाले अपने आत्मा के सन्मुख देखे तो सर्वज्ञता की प्राप्ति हो सकती है; परसन्मुख देखने से आत्मा का कुछ नहीं हो सकता। अनंतकाल तक परसन्मुख देखता रहे, तथापि वहाँ से सर्वज्ञता की प्राप्ति नहीं होना है, और निज स्वभावसम्मुख देखकर स्थिर होने से क्षणमात्र में सर्वज्ञता प्रगट हो सकती है।

सर्वज्ञता प्रगट होने से पूर्व साधकदशा में ही आत्मा की पूर्ण शक्ति की प्रतीति होती है। पूर्ण शक्ति की प्रतीति करके उसका आश्रय लेने से ही साधकदशा प्रारम्भ होकर पूर्णदशा प्रगट होती है।

'अहो! मेरा सर्वज्ञपद प्रगट होने की शक्ति मुझमें वर्तमान ही भरी है'—इस प्रकार स्वभावसामर्थ्य की श्रद्धा करते ही, वह अपूर्व श्रद्धा जीव को बाह्य में उछाले मारने से रोक देती है और उसके परिणमन को अन्तर्मुख कर देती है। स्वभावसन्मुख हुए बिना सर्वज्ञत्व शक्ति की प्रतीति नहीं होती।

अन्तर्मुख होकर सर्वज्ञत्वशक्ति की प्रतीति करने से उसमें मोक्ष की क्रिया— धर्म की क्रिया आ जाती है। जो जीव स्वभावसन्मुख होकर उसकी प्रतीति नहीं करता और निमित्त की उन्मुखता से लाभ मानता है, उस जीव को विषयों में से सुखबुद्धि दूर नहीं हुई है और स्वभावबुद्धि हुई नहीं है।

स्वभावबुद्धिवाला धर्मी जीव ऐसा जानता है कि—मस्तक काटनेवाला कसाई या दिव्यध्वनि सुनानेवाले वीतरागदेव-दोनों मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं। उन ज्ञेयों के कारण मुझे कोई हानि-लाभ नहीं है, और न उन ज्ञेयों के कारण मैं उन्हें जानता हूँ। राग-द्वेष बिना समस्त ज्ञेयों को जान लेने की सर्वज्ञशक्ति मुझमें भरी है। कदाचित् अस्थिरता का विकल्प आ जावे, तथापि धर्मी की ऐसी श्रद्धा दूर नहीं होती।

धर्मात्मा ने अपने जिस पूर्ण स्वभाव को प्रतीति में लिया है, उसी के अवलंबन के बल से अल्पकाल में उसके पूर्ण सर्वज्ञता का विकास हो जाता है।

जय हो, उस सर्वज्ञता की और उसके साधक संतों की! ●●

प्रथम भूमिका

स्वसन्मुख होकर आत्मा की प्रतीति करना-निर्विकल्प अनुभव करना, वह प्रथम अपूर्व धर्म है... बाह्य में संयोग वर्तने पर भी ''मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा, पुण्य-पाप से पार हूँ; संयोग मुझसे भिन्न हैं''—ऐसी अंतरदृष्टि का परिणमन सम्यक्त्वी के हो गया है। सम्यग्दर्शन की भूमिका में नवतत्त्वों का ज्ञान कैसा होता है और त्याग-वैराग्य कैसे होते हैं, वह समझना चाहिये।

[वैशाख शुक्ला १ के दिन सुरेन्द्रनगर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मा की प्रथम धर्मदशा कहाँ से प्रारम्भ होती है, उसकी यह बात है। आत्मा एक स्वतंत्र तत्त्व है। जगत में अनंत जीव हैं, वह प्रत्येक जीवद्रव्य अनन्त गुणों का पिण्ड है। मेरा आत्मा अनंत गुणों का चैतन्य पिण्ड है अर्थात् मैं जीवद्रव्य हूँ; शरीरादिक जो अजीव हैं, वह मैं नहीं हूँ; मेरी अवस्था में क्षणिक शुभ-अशुभभाव होते हैं, वे पुण्य-पाप-आस्रव और बंध हैं, वह मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं हैं किन्तु उपाधिभाव है; और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्दोष भाव प्रगट हो, वह संवर-निर्जरा और मोक्षतत्त्व है।—इस प्रकार नव तत्त्वों को भेदपूर्वक जाने, वह भी अभी सम्यग्दर्शन नहीं है; किन्तु पहले ऐसे नवतत्त्वों को जैसे का तैसा जानना चाहिए। ऐसे नवतत्त्व को जानने पर अपने अन्तर में विवेक हो जाता है कि पुण्य-पाप को साधकर धर्म माननेवाले कुदेव-कुगुरु कैसे होते हैं ? और संवर-निर्जरा-मोक्षरूप धर्म को साधनेवाले सच्चे देव-गुरु कैसे होते हैं ? तथा उनकी वाणी कैसी होती है ?—इस प्रकार नव तत्त्वों के निर्णय में देव-गुरु-शास्त्र का निर्णय भी आ जाता है।

यहाँ तो अभी आगे की बात बतलाना है। नवतत्त्वों को जानकर भी उनमें से एक शुद्ध चिदानन्द आत्मा को ही दृष्टि में लेकर उसकी निर्विकल्प प्रतीति करना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन है।

नव तत्त्वों को ज्यों का त्यों जानने से कुदेव-कुगुरु-कुधर्म की रुचि और आदर छूट जाता है, तथा सच्चे देव-गुरु-धर्म की ओर उन्मुखता होती है और पुण्य-पाप से धर्म होने की मान्यता छूट जाती है—इस प्रकार का त्याग प्रथम भूमिका में होता है। ''त्याग-विराग न चितमां, थाय न तेने ज्ञान''—ऐसा कहा है, उसमें यह आशय है। नवतत्त्वों का ज्ञान करे, उसमें कुदेव-कुगुरु की

मान्यता का त्याग आ जाता है। ऐसा त्याग होने के पश्चात् भी स्वयं जहाँ तक नवतत्त्व के विकल्प में रुके और अभेद आत्मा को दृष्टि में न ले, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। जिस प्रकार—हलवाई की दुकान पर जब मिठाई लेने जाता है, तब वहाँ भाव पूछता है और तराजू-बाँटों का माप भी समझ लेता है, किन्तु बाद में मिठाई लेते समय उनका लक्ष नहीं होता; उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का अनुभव करानेवाले जीव प्रथम नवतत्त्वों को जानकर उनका विचार करता है। नय-प्रमाण-निक्षेप के प्रकारों से नवतत्त्वों का विचार करते हैं किन्तु उसमें अभी शुभराग है; फिर आत्मस्वभावोन्मुख होकर निर्विकल्प आनंद का अनुभव करते समय वे विकल्प नहीं होते।—इसका नाम सम्यग्दर्शन है और वहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है।

आत्मा का निर्णय करने के लिये नवतत्त्वों को ज्यों का त्यों जानना चाहिए। मैं धर्म करना चाहता हूँ, तो धर्म आत्मा का निर्विकारी अरूपी भाव है। वह भाव किसी वस्तु के आधार से होता है। आत्मा में संवर-निर्जरा का भाव प्रगट करके मोक्ष की साधना करनेवाले जो संत हैं, वे गुरु हैं, और मोक्षतत्त्व का निर्णय किया उसमें, जिन्हें वह मोक्षभाव प्रगट हो गया है ऐसे अनंत जीव जगत में हैं—उनकी भी प्रतीति आ जाती है। पूर्व अनन्तकाल में मोक्षदशा को अनन्त जीव प्राप्त हो चुके हैं; उनमें भी अनंत जीव देहरहितरूप से सिद्धदशा में विराजमान हैं और अनेक जीव इस जगत में शरीरसहित ऐसी अरिहन्तदशा में भी कहीं वर्त रहे हैं।—उन सबका निर्णय तत्त्वनिर्णय में समा जाता है। इस प्रकार नवतत्त्वों को जानने पर उनसे विपरीत माननेवालों का आदर छूट जाता है, वह प्रथम त्याग है; और पुण्य-पाप से धर्म होता है—ऐसी विपरीत रुचि छूट जाती है, वह वैराग्य है।—इस प्रकार नवतत्त्वों का ज्ञान हो, उसका नाम चित्तशुद्धि है और यह सम्यग्दर्शन की प्रथम भूमिका है।

जगत में नवों तत्त्व हैं। मोक्षतत्त्व है, और वह मोक्षदशा प्रगट करनेवाले जगत में अनंत जीव हैं; तथा मैं भी अपनी मोक्षदशा की साधना करना चाहता हूँ। तो वह मोक्षदशा कहाँ से आयेगी? मेरे आत्मा के स्वभाव में ही पूर्णशुद्ध मोक्षदशा प्रगट होने का सामर्थ्य है; उसी में से मोक्षदशा प्रगट होगी। शरीरादि अजीव की क्रिया में से मेरी मोक्षदशा नहीं आयेगी; पुण्य-पाप या आस्रव-बंध के विकारी भावों में से भी मेरी मोक्षदशा प्रगट नहीं होगी; तथा स्वभाव के अवलम्बन से संवर-निर्जरारूप जो अपूर्व निर्मलदशा प्रगट हुई, उस अपूर्णदशा के अवलम्बन से भी पूर्ण मोक्षदशा नहीं आयेगी। मोक्षदशा का सामर्थ्य मेरे आत्मस्वभाव में ही है; उस स्वभाव के अवलम्बन से ही मेरी

मोक्षदशा प्रगट हो जायेगी।—इस प्रकार स्वसन्मुख होकर आत्मा की प्रतीति करना—निर्विकल्प अनुभव करना, वह प्रथम अपूर्व धर्म है।

''हे भाई! तू समझकर अपने में स्थिर हो''—ऐसा ज्ञानी कहते हैं, उसमें नवों तत्त्व सिद्ध हो जाते हैं। ''तू समझ''—ऐसा कहा, इसका मतलब यह हुआ कि अभी तक समझा नहीं था; विपरीत समझ थी-उसमें आस्रव-बन्ध और पुण्य-पाप का समावेश हो गया। तथा समझने को कहा, उसका मतलब यह हुआ कि जीव में समझने की शक्ति है, यानी वह ज्ञानस्वभावी है—वह बात भी उसमें आ गई। जीव से समझने को कहा, इसका मतलब यह हुआ कि समझ शक्ति से रहित अजीवतत्त्व भी जगत में हैं—यह बात भी उसमें आ जाती है। तथा अभी तक नहीं समझा था और अब नई अपूर्व समझ करने को कहा है—उसमें संवर निर्जरा तत्त्व आ जाते हैं। समझकर स्वभाव में स्थिर होने से मोक्षदशा हो जाती है।—ऐसा समझकर स्वरूप में स्थिर होनेवाले सच्चे देव-गुरु हैं; जो इससे विपरीत मनाते हैं, वे कुदेव-कुगुरु हैं।

'त्याग वैराग्य न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान'—ऐसा कहा, उसमें त्याग की व्याख्या कितनी?—उसकी यह बात है। बाह्य में घरबारादि के त्याग बिना सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता—ऐसा इसका अर्थ नहीं है। चक्रवर्ती को छह खण्ड का वैभव हो, हजारों रानियाँ हों, तथापि अन्तर में चिदानन्दस्वरूप आत्मा का सम्यग्ज्ञान होता है; इसलिये ऐसा अर्थ नहीं है कि जब बाह्य त्याग हो, तभी सम्यग्ज्ञान होता है। बाह्य में संयोग वर्त रहे हों, तथापि 'मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा पुण्य-पाप से पार हूँ'—ऐसी अंतरदृष्टि का परिणमन सम्यक्त्वी के हो गया है। यहाँ तो कहना है कि नवतत्त्वों को जानने से कुतत्त्वों की मान्यता की वृत्ति छूट जाय, उसका नाम त्याग है और ऐसे त्याग बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् चैतन्यस्वरूप में विशेष लीन होने पर जो राग-द्वेष छूट जाते हैं, उतने प्रमाण में बाह्य त्याग सहज ही होता है; किन्तु आत्मा परवस्तु का ग्रहण-त्याग करे—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। नवतत्त्व क्या हैं और उन नवतत्त्वों के विकल्प से पार आत्मा का निर्विकल्प स्वभाव क्या है? वह समझे बिना चाहे जितने तप या त्याग करे, किन्तु उनमें किंचित् धर्म नहीं है। अभव्य जीव भी ऐसे शुभभावरूप व्रत-तप करते हैं और भव्य जीव भी आत्मा के भान बिना ऐसे शुभभावरूप व्रत-तप पहले अनन्तबार कर चुका है, वह धर्म का कारण नहीं है। यह धर्म की अपूर्व बात है। अपनी अनादिकालीन विपरीत कल्पना छोड़कर सत्समागम से सुनकर नवतत्त्वों का निर्णय करना, वह सम्यग्दर्शन के लिये आँगन है। भाई! चैतन्यस्वभाव का अनुभव करते हुए

ऐसा आँगन आता है, तथापि आँगन कहीं अनुभव नहीं है। अभेदस्वभाव का अवलम्बन लेकर अकेले भगवान आत्मा का अनुभव करने से आँगन भी छूट जाता है और निर्विकल्प सम्यक्दर्शन होता है। श्रेणिक राजा को व्रत-तप नहीं थे, तथापि ऐसा सम्यग्दर्शन था। सीताजी के गर्भ में दो बालक होने पर भी उन्हें ऐसा आत्मभान वर्तता था। राग हो, तथापि अंतर में भान वर्तता है कि मेरा स्वरूप इस राग से पृथक् है। मैं तो चिदानन्दमूर्ति हूँ—ऐसी दृष्टि धर्मी को वर्तती है। यहाँ कहते हैं कि अकेले नवतत्त्वों के भेद में ही रुके और अंतर के अभेदस्वभावोन्मुख होकर उसका निर्विकल्प अनुभव न करे, तबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता। नवतत्त्वों को ज्यों का त्यों जानकर अंतर में एक आत्मस्वभाव का ही अवलम्बन लेकर उसका निर्विकल्प अनुभव करने से अपूर्व सम्यग्दर्शन होता है, वह धर्म का प्रारम्भ है।●●

आत्मा का ध्येय

आत्मा का ध्येय क्या? कर्तव्य क्या? अथवा धर्म की क्रिया क्या?—उसकी यह बात है।

प्रथम, शरीरादि की क्रिया वह आत्मा का ध्येय नहीं है, क्योंकि वह तो जड़ है—आत्मा से भिन्न वस्तु है।

अंतर में पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं, वह भी आत्मा का ध्येय नहीं है, वह तो विकार है—दुःख का कारण है।

भगवान आत्मा इस मनुष्यदेह से पार चैतन्यतत्त्व है, वह ज्ञातादृष्टा है; यदि वह स्वयं अपने को जाने देखे तो आनन्द का अनुभव हो और परमानन्दमय मुक्तदशा प्राप्त करे। इसलिये अपना शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा ही इस आत्मा को ध्येयरूप है; उसकी श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रतारूप क्रिया वह मोक्ष का कारण है।

आत्मा की सच्ची शांति कैसे हो ?

❀

[वांकानेर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय
परम पूज्य गुरुदेव का प्रवचन : वीर सं. २४८० चैत्र शुक्ल ९]

❀

शिष्य पूछता है कि प्रभो! आत्मा की शांति कैसे प्राप्त हो? उसका उपाय क्या है? अनादिकाल से संसार की चार गतियों में भटकते हुए कहीं भी सच्ची शांति नहीं मिली। नरक में और स्वर्ग में, तिर्यंच में और मनुष्य में अनादिकाल से अवतार धारण किये और उनके कारणरूप पाप तथा पुण्यभाव भी अनन्तबार किये हैं; किन्तु उनमें कहीं आत्मा की शांति प्राप्त नहीं हुई। अब आत्मा की शांति की जिज्ञासा से शिष्य पूछता है कि प्रभो! ऐसा कौन सा उपाय है कि जिससे मुझे अपने आत्मा का भान हो?—ऐसा पूछनेवाले को आत्मा की आस्था है, जिनसे पूछ रहा है ऐसे ज्ञानी गुरु की आस्था भी उसे हुई है और आत्मा का स्वरूप समझने की जिज्ञासा हुई है।—ऐसे शिष्य को आचार्यदेव समझाते हैं कि हे भाई! जो देहादि का संयोग और अवस्था का क्षणिक विकार दिखाई देता है, वह तेरे आत्मा के स्वभाव के साथ एकमेक नहीं है। क्षणिक संयोग और विकार की दृष्टि छोड़कर आत्मा के भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से देखने पर भगवान आत्मा, कर्म से बँधा हुआ नहीं है और विकार भी उसके साथ एकमेक नहीं हुआ है। ऐसे भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से आत्मा शुद्धस्वभावरूप अनुभव में आता है और उत्सव उसमें अतीन्द्रिय शांति का अनुभव होता है;—यह सम्यग्दर्शन की रीति है।

लक्ष्मी आदि का राग कम करके धर्म प्रभावना के लिये प्रतिष्ठा-महोत्सवादि कार्यों में लक्ष्मी व्यय करने का शुभभाव धर्मी को भी आता है; तथापि उस समय भी धर्मी जानता है कि यह राग तो संयोग के लक्ष से होता है और मेरा स्वभाव असंयुक्त है। हे भाई! यदि तुझे अनन्तकाल की भूख मिटाना हो और धर्म का प्रारम्भ करना हो, अपूर्व आत्मशांति की आवश्यकता हो तो अन्तर में शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव का अवलम्बन कर। इन्द्रों को भी देव-गुरु-धर्म के प्रति भक्ति का आह्लाद आता है। भगवान का जन्म होने पर इन्द्रों के आसन कंपायमान होते हैं और वे भगवान के सामने

आकर भक्ति से नाचने लगते हैं। तीर्थंकर का जन्म होने के पन्द्रह महीने पहले से इन्द्र आकर भगवान के माता-पिता की सेवा करते हैं और कुबेर रत्नों की वर्षा करता है। इन्द्र, माता के पास आकर कहते हैं कि हे देवी! छह महीने बाद आपकी कुक्षि में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर का आत्मा आनेवाला है। हे माता! आप भगवान की ही नहीं किन्तु तीनलोक की माता हैं! हे रत्नकुक्षिधारिणी माता! आप त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर की जन्मदात्री हैं।—ऐसा भक्ति का भाव आये, तथापि उस समय राग से पार चिदानन्दस्वभाव पर धर्मी की दृष्टि पड़ी है। चिदानन्दस्वरूप आत्मा को प्राप्त करना चाहिये, उसकी यह बात है। भगवान आत्मा स्वयं कल्याण की मूर्ति है; राग के अवलम्बन से या बाह्य साधन से आत्मा का कल्याण नहीं होता। यह अपूर्व बात समझने से ही जीव का कल्याण होता है; इसलिये आत्मा की सच्ची समझ करना ही विश्रामस्थल है। भाई! प्रथम आत्मा की समझ का उपाय कर। दया, भक्ति आदि का रागभाव बीच में होता है, किन्तु वह कहीं शांति का उपाय नहीं है। राग और संयोग से पार वास्तविक चैतन्यस्वरूप क्या है, उसकी समझ करना ही शांति का मार्ग है। भाई! तेरे आत्मा में तेरी प्रभुत्वशक्ति भरी है; तेरी प्रभुता तुझमें ही विद्यमान है; उसके सन्मुख होकर प्रतीति करना, वह प्रभुता का उपाय है। ज्ञानी तो विधि बतलाते हैं किन्तु उस विधि को समझकर उसका प्रयोग तो स्वयं ही करना पड़ता है। अंतर में स्वभावसन्मुख होकर स्वयं प्रयोग करे तो यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान हो। अज्ञानी, विकार की और संयोग की शक्ति तो देखते हैं किन्तु विकार से पार ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभाव ज्यों का त्यों विद्यमान है, उसकी शक्ति और महिमा वे नहीं देखते। विकार तो प्रतिक्षण बदलता रहता है और ज्ञानानन्दस्वभाव ज्यों का त्यों ध्रुव एकरूप रहता है। ऐसे स्वभाव के सन्मुख होकर उसमें एकाग्रता करना, वह अपूर्व धर्म की रीति है। यह बात किसे समझाई जा रही है?—जिसमें समझने की शक्ति हो, उसे यह बात समझाते हैं। ज्ञानी संत जानते हैं कि जीवों में यह बात समझने की शक्ति है, जीव यह बात समझ सकेंगे;—ऐसा जानकर वे ऐसा उपदेश देते हैं। "मैं समझने योग्य हूँ"—ऐसा लक्ष करके जिज्ञासापूर्वक प्रयत्न करे तो वह बात अवश्य ही समझ में आ सकती है। यह कहीं जड़ से नहीं कहते, कीडों-मकोड़ों को नहीं सुनाने, किन्तु जिनमें समझने की शक्ति है और समझने की जिज्ञासा से आये हैं, उन्हीं से यह बात कही जा रही है।

हे भाई! तेरा आत्मा शुद्ध ज्ञानान्दस्वरूप है। शरीरादिक तो जड़-अजीवतत्त्व हैं; जो शुभाशुभभाव होते हैं, वे आस्रव और बंधतत्त्व हैं; वह जीव का स्वरूप नहीं है। ज्ञानपर्याय

अन्तरोन्मुख होकर अभेद होने से जो निर्मलदशा हुई, वह संवर-निर्जरा-मोक्षतत्त्व है; वह निर्मलदशा आत्मा से पृथक् नहीं है किन्तु उसी के साथ अभेद है, इसलिये वह आत्मा ही है। अन्तर्स्वभावोन्मुख होने से निर्मलपर्याय आत्मा के साथ अभेद होती है। भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से देखने पर नवों तत्त्वों में एक शुद्ध आत्मा ही प्रकाशमान है। जड़ से और पुण्य-पाप से पार तथा जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उसमें अभेद शुद्ध आत्मा है; ऐसे शुद्ध आत्मा की दृष्टि प्रगट हुई, वहाँ धर्मी को एक शुद्ध आत्मा की ही मुख्यता है; जो स्व-परप्रकाशकज्ञान विकसित हुआ उसमें संयोग को और राग को जानते हैं, किन्तु शुद्ध आत्मा की मुख्यता धर्मी की दृष्टि में से कभी नहीं हटती। अवस्था में विकार होने पर भी, ऐसे शुद्ध आत्मा की दृष्टि किस प्रकार होती है, यह बात आचार्यदेव विशेषरूप से दृष्टान्त देकर आगे समझायेंगे।●●

मनुष्यभव में करने योग्य

देखो भाई, इस मनुष्य शरीर का मिलना अनन्तकाल में महँगा है; तो मनुष्यभव प्राप्त करके विचार करना चाहिए कि अरे, मेरे आत्मा का हित कैसे हो? मेरा आत्मा अनादि से इस संसार में भटक रहा है, इसलिये अब ऐसा कौन-सा उपाय करूँ कि जिससे संसारभ्रमण का अन्त आये और आत्मा की मुक्ति हो? मैं शरीर से भिन्न चैतन्यस्वरूप हूँ—इस प्रकार अपने स्वरूप की पहिचान करना ही इस मनुष्यपने में करनेयोग्य ध्येय है—और वही धर्म है।

आत्मा की संभाल करके उसे ज्ञान का ध्येय बनाये तो आत्मा में तत्त्वज्ञान की अपूर्व तरंगें उछलने लगें—वह मोक्ष का कारण है। ज्ञानस्वभाव तो ज्यों का त्यों अनादि-अनंत है, किन्तु जीव ने कभी अपने स्वरूप की संभाव नहीं की, इसलिये वह संसार में भटकता है। एक क्षण भी अपने वास्तविक स्वरूप की सम्भाल करे तो मुक्ति हुए बिना न रहे।

तो वह भी मिथ्यादृष्टि ही है

जगत के स्थूल बुद्धिमान जिस प्रकार ईश्वर को जगत्कर्ता मानते हैं, उसी प्रकार यदि कोई जैन समुदाय में रहकर ऐसा माने कि आत्मा, पर का कुछ करता है अथवा कर्म, जीव को परिभ्रमण कराते हैं—तो वह भी अन्यमती की भाँति मिथ्यादृष्टि ही है, वस्तु के स्वतंत्र स्वभाव की उसे प्रतीति नहीं है।

जगत के समस्त पदार्थों में प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुव बतलाये हैं, वह भगवान की सर्वज्ञता का चिह्न है—सर्वज्ञ भगवान की पहिचानपूर्वक, सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित यथार्थ वस्तुस्वरूप का अपने ज्ञान में निर्णय करना, यह धर्मी होने के लिये प्रथम कर्तव्य है।

प्रत्येक वस्तु का स्वरूप उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है। उत्पाद यानी वस्तु में नवीन पर्याय उत्पन्न होना, व्यय यानी वस्तु की पूर्व पर्याय का नाश होना; और ध्रुव यानी स्थिर रहना। वस्तु में ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों एक समय में एक साथ हैं।

वस्तु अपने मूल स्वरूप में ध्रुव रहकर, उसमें प्रतिसमय नई-नई अवस्थाओं का उत्पाद होता है और उसी समय उसकी पुरानी अवस्था का व्यय होता है।

इस उत्पाद-व्यय-ध्रुव में बड़ा सिद्धान्त है कि जिस समय जिस अवस्था का उत्पाद हो, उसी समय उस अवस्था का व्यय नहीं होता। और जिस पर्याय का उत्पाद हुआ, वह दूसरे समय स्थिर नहीं रहती, यानी एक की एक पर्याय विस्तृत होकर दो समय नहीं रहती; दूसरे समय में उसका व्यय हो जाता है; और ध्रुवस्वभाव तो उत्पाद-व्यय के बिना सदैव ज्यों का त्यों एकरूप स्थित रहता है। उस ध्रुवस्वभाव का लक्ष करने से सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याय का उत्पाद और मिथ्यात्वादि पर्याय का व्यय हो जाता है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप जो सत् है, उसमें कुछ ग्रहण करना-छोड़ना नहीं रहता किन्तु ज्ञातृत्व ही रहता है। परद्रव्य अपने-अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत् हैं, इसलिये उनमें आत्मा कुछ नहीं करता और आत्मा स्वयं भी प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत् है, उस समय-समय के सत् में कुछ फेरफार करना या ग्रहण-त्याग करना नहीं करना रहता, अकेला ज्ञातृत्व ही रहता है। इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत्स्वभाव के निर्णय में ज्ञान और वीतरागता आ जाती है।

✧ आत्मा में पूर्व की अवस्थायें तो बीत गई हैं, इसलिये उनका क्या छोड़ना? उनका व्यय हो गया है, इसलिये उन्हें छोड़ना नहीं रहता।

✧ भविष्य पर्याय अभी हुई ही नहीं है, इसलिये उसमें भी क्या छोड़ना।

✧ और वर्तमान में जो अवस्था उत्पादरूप विद्यमान है, उसे भी क्या छोड़ना? क्योंकि वर्तमान में तो वह 'है' विद्यमान कहना और उसी समय उसे छोड़ने को कहना—यह दोनों एक साथ हो ही नहीं सकते। और दूसरे समय में तो उस अवस्था का व्यय हो ही जायेगा, इसलिये दूसरे समय भी उसे क्या छोड़ना? और ध्रुव तो सदैव विद्यमान है, उसमें ग्रहण-त्याग नहीं है।

—इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत् वस्तु जैसी है, वैसी है, उसमें कुछ छोड़ने जैसा है ही नहीं। ऐसा वस्तुस्वरूप ज्ञान में आया, वहाँ वीतरागभाव ही रह जाता है। वीतरागभाव के समय विकार की उत्पत्ति नहीं होती, उस अपेक्षा से विकार को छोड़ा—ऐसा कहा जाता है। किन्तु यह राग है और इसे मैं छोड़ूँ—ऐसी बुद्धि से राग नहीं छूटता।

पूर्वकाल में राग हो गया, वह तो इस समय व्ययरूप है, इसलिये उस राग को छोड़ना नहीं रहता। भविष्य की पर्याय अभी हुई ही नहीं है, इसलिये उसमें से राग को छोड़ूँ—यह बात ही नहीं रहती। और वर्तमान पर्याय में राग है, वह तो उत्पादरूप प्रवर्तमान है—वह सत् है—उसे वर्तमान में छोड़ा नहीं जा सकता। समय-समय के उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप—ऐसे वस्तुस्वभाव का निर्णय करने से ग्रहण-त्याग का आकुलभाव छूटकर वीतरागी ज्ञानभाव प्रगट होता है। इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुव सत्भाव की पहिचान, वह मोक्षमार्ग है।

जगत के समस्त पदार्थों में प्रति समय उत्पाद-व्यय-ध्रुव बतलाये हैं, वह भगवान की सर्वज्ञता का चिह्न है, सर्वज्ञ के सिवा प्रतिसमय के उत्पाद-व्यय-ध्रुव को दूसरा नहीं जान सकता। स्वयंभूस्तोत्र में आचार्य समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि—हे नाथ!

स्थिति-जनन—निरोध—लक्षणं
चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम्।
इति जिन! सकलज्ञ-लांछनं
वचनमिदं वदतां वरस्य ते॥४॥

जनन-व्यय-ध्रौव्य लक्षणं जगत प्रतिक्षणं
चित-अचित आदि से पूर्ण यह हरक्षणं;
यह कथन आपका चिह्न सर्वज्ञ का
है वचन आपका आप्त उत्कृष्ट का।

हे मुनिसुव्रत जिन! आप वदतांवर हैं—प्रवक्ताओं में श्रेष्ठ हैं; आपका यह वचन कि ''चर और अचर जगत् प्रति क्षण स्थिति-जनन-निरोधलक्षण को लिये हुए हैं''—वह आपकी सर्वज्ञता का चिह्न है। जगत में जड़-चेतन, सूक्ष्म स्थूल या मूर्त-अमूर्त समस्त पदार्थों में प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को एक साथ लक्षित करना—वह सर्वज्ञता के बिना नहीं हो सकता, इसलिये हे भगवान! आपके ऐसे परम अनुभूत वचन से स्पष्ट सूचित होता है कि आप सर्वज्ञ हैं।

—इस प्रकार सर्वज्ञभगवान की पहिचानपूर्वक, सर्वज्ञभगवान द्वारा कथित यथार्थ वस्तुस्वरूप का अपने ज्ञान में निर्णय करना, वह धर्मी होने के लिये प्रथम कर्तव्य है।

(—प्रवचन से)

(टाइटिल २ का शेष)

६६	नौतमलाल न्यालचंद	राजकोट
६६	शाह वनेचंद जेचंद	राजकोट
६६	कोठारी केवलचंद झवेरचंद	चोटीला
६६	कोठारी गुलाबचंद झवेरचंद	चोटीला
६६	कोठारी त्रिभुवनदास पीतांबर	चोटीला
६६	कोठारी गुलाबचंदभाई की धर्मपत्नी	चोटीला
६६	श्री मुमुक्षु मंडल (हा. नेमचंद वेणीचंद)	वासणा चौधरी
६६	जडावबेन मणीलाल गुलाबचंद	जमशेदपुर
६६	शांतिलाल दलीचंद	कलकत्ता
६६	शांतिलाल ऊजमशी	कलकत्ता
६६	न्यालचंदजी सोगानी	कलकत्ता
६६	शकुन्तलाबेन	दिल्ली
६६	लक्ष्मीबेन	बम्बई
६६	रेवाशंकर भाईचंद	राजकोट
६६	मेसर्स रमणलाल वीरजी की कं.	मोशी-अफ्रीका
६६	भाई झवेरचंद शामजी	मोशी-अफ्रीका
६६	मेसर्स मालदे स्टोर्स (हा. राजशी हेमराज)	मोशी-अफ्रीका
२९५	विभिन्न ९ व्यक्तियों की ओर से ६६ रुपये की रकमें (गाँधी रायचन्द रतनशी, भजनलालजी सरावगी, शांतिलाल पांड्या, फूलचंदजी सरावगी, हुलासमलजी कासलीवाल, मुरलीधरजी सेठी, सूरजबेन अमृतलाल, कस्तूरबेन तथा उनकी मातुश्री, हरिश्चन्द्र दत्तात्रय)	
५१,३२३.००	इक्यावन हजार, तीन सौ तेवीस रुपया, आठ आना	

[श्रावण वदी दशमी तक]

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का
अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	सम्यग्दर्शन	२)
श्री मुक्तिमार्ग	।।=)	समयसार सटीक	१०)
श्री अनुभवप्रकाश	।।)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	।।।)		
समयसार प्रवचन भाग २	५।)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार प्रवचन भाग ३	४।।)	अध्यात्म पाठसंग्रह	५)
प्रवचनसार	५)	समयसार पद्यानुवाद	।)
अष्टपाहुड़	६)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)॥)
चिद्विलास	१=)	स्तोत्रत्रयी	।।)
आत्मावलोकन	१)	आत्मधर्म-मासिक लवाजम-	३)
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरण	१।=)	आत्मधर्म फाइल वर्ष १-२-३	
दसलक्षणधर्म	।।।)	५-६-७-८-१०	३।।।)
जैन बालपोथी	।)		पंचमेरु

卐

हिन्दी आत्मधर्म की फाईलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७, ८, १० यह आठ फाईलें एक साथ लेनेवालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी